कर्म की शक्ति और उसका स्वरूप

उपाध्याय अमरमुनिजी

भारतीय दर्शन मे कर्म और उसके फल के सम्बन्ध में गंभीरता से विचार किया गया है। कर्म क्या हैं? और उसका फल कैसे मिलता है? तथा किस कर्म का क्या फल मिलता है? इस विषय में भारतीय दर्शन ने और भारत के तत्वदर्शी चिंतकों ने जितना गंभीर विचार किया है, उतना और वैसा पाश्चात्य दर्शन में नहीं किया गया है। भारतीय दर्शन में भी जैन-परंपरा ने कर्म और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में जो गहन और विशाल चिन्तन प्रस्तुत किया है, वह विश्व के दार्शनिक इतिहास में वस्तुतः अद्भुत एवं विलक्षण है।

कर्म, कर्म का फल और कर्म करने वाला, इन तीनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैन दर्शन के अनुसार जो कर्म का कर्ता होता है, वही कर्मफल का उपभोक्ता भी होता है। जो जीव जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार वह शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल प्राप्त करता है, संसार की विचित्रता का आधार यदि कोई तत्व है, तो वह कर्म ही है।

मुझसे एक प्रश्न पूछा गया है कि आत्मा बलवान है? अथवा कर्म बलवान है? इस प्रश्न के उत्तर में प्राचीन साहित्य में बहुत कुछ कहा गया है। बहुत कुछ विचार किया गया है। बात यह है कि कर्म एक जड़ पुद्गल है। उसमें अनन्त शक्ति है। दूसरी ओर आत्मा भी एक चेतन तत्व है। और उसमें भी अनन्त शक्ति है। यदि कर्म में शक्ति नहीं होती तो संसार के ये नानाविध विचित्र खेल भी न होते। कर्म में शक्ति है तभी तो वह जीव को नाना गतियों में और विविध योनियों में परिभ्रमण कराता है। कर्म की शक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता है, किन्तु मूल प्रश्न यह है कि कर्म का कर्ता है आत्मा, आत्मा स्वयं अपने किये हुवे कर्मों से बद्ध हो जाता है। उस बंधन से मुक्त होने की शक्ति भी आत्मा में ही है। कर्म-पुद्गल चैतन्य शक्ति का सर्वथा सर्वदा घात नहीं कक सकते। अनन्त गगन में मेघों की कितनी भी घनघोर घटा छा जाएं, फिर भी वे सूर्य की प्रभा का सर्वथा विलोप नहीं कर सकती। बादलों में सूर्य को आच्छादित करने की शक्ति तो है किन्तु उसके आलोक को सर्वथा विलुप्त करने की शक्ति उन बादलों में भी नहीं है। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में भी है। कर्म में आत्मा के सहज स्वाभाविक गुणों को आच्छादित करने की शक्ति है, इसमें जरा भी असत्य नहीं है, पर आत्मा को आच्छादित करने वाले कर्म कितने भी प्रगाढ़ क्यों न हों, उनमें आत्मा के एक भी गुण को मूलतः नष्ट करने की शक्ति नहीं है। दूसरी बात यह है, कि जैसे सूर्य स्वयं मेघों को उत्पन्न करता है, उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर वही सूर्य अपनी शक्ति से उन्हें छिन्न-भिन्न भी कर डालता है। इसी प्रकार आत्मा भी स्वयं कर्मों को उत्पन्न करता है, उनसे आच्छादित हो जाता है और फिर स्वयं ही उन कर्मों को निर्जरा द्वारा छिन्न-भिन्न भी कर डालता है। कर्म की शक्ति अनन्त मानने पर भी उसकी अपेक्षा आत्मा की अधिक है। कर्म शक्तिशाली होते हुवे भी जड़ है और आत्मा चैतन्यरूप है। अतः आत्मा का संकल्प ही कर्म को उत्पन्न करता है और आत्मा का संकल्प ही कर्म को नष्ट कर डालता है। आपके जितने भी कर्म हैं, चाहे वे कितने ही बलवान क्यों न हों, लेकिन आत्मा के बल के आगे वे कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि कर्म को जो भी रूप मिला है वह आत्मा के ही संकल्पों से मिला है। आपको अपने इस वर्तमान जीवन में कर्मों का जो रूप मिला है, यदि उसे आप नष्ट करना चाहते हैं तो उसे नष्ट करने की शक्ति आपके अन्दर है। लेकिन जब तक आत्मा में अज्ञान है और जब तक उसे अपने स्वरूप का भान नहीं है, तभी तक वह बन्धन में बद्ध रहता है। आपकी आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह परमात्मा भी है। कर्म की शक्ति से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकता इस बात की है, कि आप अनन्त-अनन्त काल से विस्मृत अपने स्वरूप और अपनी शक्ति का परिबोध प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इसी पर आपकी सफलता है।

कुछ लोग कहा करते हैं, कि कर्म जब हलके हों तब आत्मा की शुद्धि हो, आत्मा पवित्र हो। और आत्मा की विशुद्धि एवं पवित्रता होने पर ही कर्म हल्के होते हैं। यह एक अन्योन्याश्रय दोष है। आत्मा की शुद्धि होने पर कर्म का हल्का होना और कर्म के हल्के होने पर आत्मा की विशुद्धि होना, इस प्रकार का अन्योन्याश्रित चिन्तन जैन दर्शन का मूल चिन्तन नहीं है। आत्मा की विशुद्धि और आत्मा की विमुक्ति कर्म के हल्के होने पर नहीं, बल्कि आत्मा के प्रसुप्त पुरुषार्थ को जागृत करने से होती है। भोग भोग कर कर्मों को हल्का करने की प्रक्रिया, एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका कभी अन्त नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा जितना अपने कर्मों को भोगता है, उससे भी कहीं अधिक वह भोगकाल में राग-द्वेष में उलझ कर नये कर्म का बन्ध कर लेता है। इसलिये कर्म टूटें तो आत्मा विशुद्ध हों, यह सिद्धान्त नहीं है। बल्कि सिद्धान्त यह है कि आत्मा का शुद्ध पुरुषार्थ जागे तो कर्म हल्के हों।

शास्त्रों में दो प्रकार की मुक्ति मानी है—द्रव्य-मुक्ति और भाव-मुक्ति। द्रव्य-मुक्ति प्रतिक्षण होती रहती है, क्योंकि आत्मा प्रतिक्षण अपने पूर्व कर्मों को भोग रहा है, किन्तु भाव-मुक्ति के बिना वास्तविक विमुक्ति नहीं मिल सकती है। द्रव्य की अपेक्षा भाव का मूल्य अधिक है, क्योंकि आत्मा के प्रसुप्त पुरुषार्थ को प्रबुद्ध करने की शक्ति द्रव्य में नहीं है, भाव में ही है, आत्मा का ज्ञान चेतना में ही है। आत्मा का जो स्वोन्मुखी पुरुषार्थ है और आत्मा का जो वीतराग जागरण है, वस्तुतः वही भाव-मोक्ष है। साधना के द्वारा ज्योंही विकार-मुक्ति रूप भाव-मोक्ष होता है, साथ ही जड़ कर्म पुद्गलों से विमुक्तिस्वरूप, द्रव्य-मोक्ष भी हो जाता है।

मुख्य प्रश्न भाव-मोक्ष का है। द्रव्य-मोक्ष के लिये पुरुषार्थ करने की अलग से जरूरत नहीं है। कल्पना कीजिये, घर में अंधेरा है, दीपक जलाते ही प्रकाश हो जाता है। यहां पर क्या हुआ। पहले अंधकार नष्ट हुआ, फिर प्रकाश आया अथवा पहले प्रकाश हुआ और फिर अंधकार नष्ट हुआ। वस्तुतः दोनों के अलग-अलग कार्य नहीं हैं। प्रकाश का हो जाना ही अंधकार का नष्ट हो जाना है। और अंधकार का नष्ट हो जाना ही प्रकाश का हो जाना है। सिद्धान्त यह है कि प्रकाश और अंधकार का जन्म और मरण साथ-साथ ही होता है। जिस क्षण प्रकाश जन्मता है, उसी क्षण अंधकार मरता है। इधर प्रकाश होता है और अंधकार नष्ट हो जाता है। एक ही समय में एक का जन्म होता है और दूसरे का मरण हो जाता है। यही बात द्रव्य-मोक्ष और भाव-मोक्ष के सम्बन्ध में भी है। ज्योंही भाव-मोक्ष हो जाता है त्यों ही द्रव्यमोक्ष भी हो जाता है। भाव-मोक्ष और द्रव्य-मोक्ष का जन्म एक साथ ही होता है, उसमें क्षणमात्र का भी अन्तर नहीं रह जाता।

कहने का अभिप्राय यह है कि, कर्मों से लड़ने के पहले आत्मा के पुरुषार्थ को जागृत करने की आवश्यकता है। अंधकार को नष्ट करने के लिये शस्त्र ले कर लड़ने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि प्रकाश को जागृत करने की ही आवश्यकता है। प्रकाश को जागृत कर दिया तो अंधकार स्वयं ही नष्ट हो गया। प्रकाश की सत्ता के समक्ष अंधकार की सत्ता खड़ी नहीं रह सकती। यही बात कर्म और आत्मा के पुरुषार्थ के सम्बन्ध में भी है। आत्मा के पुरुषार्थ को जागृत करो। यही सबसे बड़ी साधना है। और यही कर्म-विमुक्ति का मूल कारण है।

कुछ साधक इस प्रकार के हैं, जो कर्मों को बलवान मान कर चलते हैं और अपनी-अपनी आत्मा की शक्ति को भूल कर कर्मशक्ति के सामने झुक जाते हैं वे अपनी साधना में हताश और निराश हो जाते हैं। एक ओर वे साधना भी करते जाते हैं और दूसरी ओर वे कर्म की शक्ति का रोना भी रोते हैं। यदि आपके मन में यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा दुर्बल है, वह कुछ नहीं कर सकती, कर्म ही बलवान है, कर्म में ही अनन्त शक्ति है, तो आप हजारों जन्मों की साधना से भी कर्मों से विमुक्त नहीं हो सकते। यह बड़ी विचित्र बात है कि हम साधना तो करें, किन्तु साधना की अनन्त शक्ति में हमारा विश्वास न हो। यह तो वही बात हुई कि हम भोजन करके किसी से पूछे कि हमारी भूख कब मिटेगी और पानी पी कर यह पूछें कि हमारी प्यास कब मिटेगी। साधना करके यह पूछना कि मेरी विमुक्ति कब होगी। यह एक विचित्र प्रश्न है। इस प्रकार का प्रश्न उसी आत्मा में उठता है जिसे अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता। एक साधक की आत्मा में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास जागृत होना चाहिये कि काम, क्रोध आदि बिकल्प चाहे कितने ही प्रबल क्यों न हों, पर अन्त में, मैं उन पर विजय प्राप्त कर लूंगा। आत्मा का जागरण ही हमारी साधना का एक मात्र लक्ष्य होना चाहिये।

मुझे एक बार एक वयोवृद्ध श्रावक से बातचीत करने का अवसर मिला। वे बहुत बड़े साधक थे। संभवतः मेरे जन्मकाल से भी पहले ही वे साधना मार्ग पर चल पड़े थे। उस समय मैं वयस्क था और वे वयोवृद्ध थे। न जाने वह अपने जीवन में कितनी सामायिक कर चुके थे, कितने व्रत और उपवास कर चुके थे, कितने प्रतिक्रमण कर चुके थे और न जाने कितनी माला जप चुके थे। परन्तु उनके जीवन में शान्ति और संतोष कभी नहीं आया। धन में और परिजन में उनकी बड़ी तीव्र आसक्ति थी। एक दिन जबकि वे सामायिक करके बैठे हुए थे, तो इन्होंने मेरे से पूछा—महाराजजी! आप बड़े ज्ञानी हैं, शास्त्रों के ज्ञाता हैं, आप यह बतलाइये कि मैं भव्य हूं या अभव्य हूं। मैंने अपने मन में सोचा—"यह क्या प्रश्न है? यह प्रश्न तो साधना के प्रारम्भ में ही तय हो जाना चाहिये था।" मैंने उस वृद्ध श्रावक से कहा—जब तुम्हारे जीवन में आध्यात्मिक पुरुषार्थ जागा, जब तुम्हारे जीवन में संसार की वासना को दूर करने की भावना जागी और जब तुम्हारे जीवन में भगवान के सिद्धान्तों पर आस्था जागी, तभी यह समझ लेना चाहिये था कि मैं भव्य हूं, अभव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हूं। यदि तुम्हारे मन में भगवान के वचनों में आस्था है, प्रशम है, भाव है और कषाय का उपशम भाव है तो समझ लो कि तुम भव्य हो, इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है। इसके विपरीत यदि इतनी लम्बी साधना के बाद भी तुम्हारे जीवन में यह सब कुछ नहीं है, तो तुम अभव्य हो। भव्य-अभव्य का निर्णय कोई दूसरा नहीं कर सकता, स्वयं अपनी आत्मा ही कर सकती है। मैं भव्य हूं अथवा अभव्य हूं यह जानने के पहले यह जानो कि मेरे जीवन में शान्ति और संतोष आया है अथवा नहीं। अन्तरचेतना को जगाने का प्रयास करो। शून्य मन से की जाने वाली साधना वस्तुतः साधना नहीं है।

कुछ विचारक इस प्रकार भी सोचा करते हैं कि कहां अनन्त जन्मों के अनन्त कर्म और कहां इस छोटे से जीवन की छोटी-सी साधना। भला, अनन्त जीवन के अनन्त कर्म एक जीवन में कैसे क्षय किये जा सकते हैं? जो लोग इस प्रकार सोचा करते हैं, मेरे जीवन में उन लोगों के सोचने का यह स्वस्थ तरीका नहीं है। मैं पूछता हूं, कि किसी पर्वत की एक ऐसी गुफा है जिसमें हजारों वर्षों से अंधकार रह रहा है, किन्तु ज्यों ही उस गुफा में दीपक की ज्योत जलाई कि हजारों वर्षों का अंधकार एक क्षण मात्र में ही विलुप्त हो जाता है। जरा विचार तो कीजिये कहां हजारों वर्षों का अंधकार और कहां एक नन्ही-सी दीपक-ज्योति। वस्तुतः जैसा कि मैंने आपको पहले कहा था कि प्रकाश के समक्ष खड़े रहने की शक्ति अंधकार में हो ही नहा सकती। इसी प्रकार आत्म-जागरण की ज्योति प्रकट होते ही अनन्त-अनन्त जन्म के कर्म भी क्षण भर में ही नष्ट हो सकते हैं। इसमें जरा भी संदेह की बात नहीं है। गजसुकुमार ने कितने जन्मों के कर्मों को अल्पकाल की साधना से ही नष्ट कर दिया था। अर्जुन मालाकार के कर्म कितने घोर थे, केवल अल्प साधना से ही उसने अपने कर्मों को कितनी तीव्रता के साथ नष्ट किया। मानव मन के किसी भी परापेक्षी विकल्प में यह शक्ति नहीं है कि आत्मा के स्वोन्मुखी संकल्प के सामने वह खड़ा रह सके। कर्म कितना ही प्रबल क्यों न हो, वह कितना भी पुराना क्यों न हो, किन्तु आत्म-जागरण की ज्योति के समक्ष वह टिक नहीं सकता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है। उसमें परमात्मा होने की भी शक्ति है, किन्तु तभी जबकि उसे अपने पर विश्वास हो, अपनी शक्ति पर आस्था हो, अपने आध्यात्मिक पुरुषार्थ में निष्ठा हो।

कर्म बलवान है, यह सत्य है, क्योंकि तभी तो वे जीव को नाच नचाते हैं। पर याद रखिये, कर्म को उत्पन्न करने वाला यह आत्मा ही है। आत्मा की शक्ति के समक्ष कर्म की शक्ति अवश्य ही हीन कोटि की है। आत्मा में अपने आपको बाँधने की शक्ति भी है और इस आत्मा में अपने को मुक्त करने की शक्ति भी है। आत्मा न जाने कितनी बार नरकों में गया और न जाने कितनी बार स्वर्गों में गया, तथा न जाने कितनी बार यह पशु-पक्षी बना और न जाने कितनी बार इसने मानव तन पाया। जन्म और मरण का यह खेल आज का नहीं, अनन्त-अनन्त काल का है। इस खेल को बनाने वाला भी आत्मा है और इस खेल को मिटाने वाला भी यह आत्मा ही है। जब यह आत्मा अज्ञान और मिथ्यात्व आदि विकल्पों से अभिभूत हो जाता है, तब वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। अपने स्वरूप को भूल बैठना ही सारी बुराइयों की जड़ है। आत्म-स्वरूप को समझना यही हमारी साधना है। जब तक साधक अपने आपको नहीं समझता है, तब तक न वह अपने मन के विकल्पों पर विजय प्राप्त कर सकता है और न वह कर्म की घनघोर घटाओं को ही छिन्न-भिन्न कर सकता है। प्रत्येक साधक के हृदय में यह दृढ़ विश्वास होना ही चाहिये कि मैं अनन्त शक्ति संपन्न हूं। और मुझमें आज से नहीं, अनन्तकाल से अनन्त शक्ति रही है। प्रश्न शक्ति प्राप्त करने का नहीं है, वह तो आज से क्या, अनन्त से ही प्राप्त है। मुख्य प्रश्न है, उस शक्ति के जागरण का। आत्म- शक्ति के जागृत होते ही कर्म छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

जैन दर्शन में कर्म के संबंध में जो कुछ कहा गया है और जो कुछ लिखा गया है, उसे इस लेख में पूरी तरह बताना कदापि संभव नहीं है। फिर भी मैं संक्षेप में आपको यह बतलाने का प्रयत्न करूंगा कि जैन दर्शन के अनुसार कर्म का स्वरूप क्या है और कर्म का फल कर्म करने वाले आत्मा को किस रूप में मिलता है। इस संदर्भ में यह बात भी विचारणीय है कि आत्मा कर्म कैसे बांधता है और किस साधना के द्वारा उससे कैसे विमुक्ति प्राप्त कर सकता है। कर्म के सम्बन्ध में जितना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और दार्शनिक चिन्तन जैन-दर्शन के ग्रन्थों में किया गया है, वह विश्लेषण और चिन्तन अन्यत्र आपको इस रूप में उपलब्ध नहीं हो सकेगा।

कर्म की परिभाषा

कर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि आत्म-सबद्ध पुद्गल द्रव्य कर्म कहा जाता है और द्रव्य कर्म के बन्ध के हेतु रागादि भाव, भाव-कर्म माना गया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने स्वरचित कर्म-विपाक ग्रंथ में कर्म का स्वरूप बतलाते हुवे कहा है––

"कीरइ जीएण हेउहिं, जेणं त्तो भण्णए कम्मं"

कर्म का यह लक्षण द्रव्य कर्म और भाव कर्म दोनों में घटित होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग––इन पांच कारणों से आत्म-प्रदेशों में परिस्पंदन (कंपन) होता है, जिससे उसी आकाश-प्रदेश में स्थित अनन्तानन्त कर्म-योग्य पुदगल जीव के साथ संबद्ध हो जाता है। वह आत्म-संबद्ध पुद्गल द्रव्य कर्म कहा जाता है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध नीर-क्षीरवत् एवं अग्नि-लोह-पिण्डवत् होता है। जीव और कर्म का सम्बन्ध कर्म-शास्त्र में दो प्रकार का माना गया है–– अनादि अनन्त और अनादि-सान्त। सब भव्यों में तो नहीं, प्रायः निकट भव्य जीवों में अनादि-सान्त सम्बन्ध रहता है और अभव्य जीवों में तो एकान्ततः अनादि अनन्त सम्बन्ध रहता है। क्योंकि अभव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवों की मुक्ति कभी नहीं होती है और भव्यों में अनन्त आत्मा अतीत में मोक्ष गये हैं और भविष्य में अवश्य जावेंगे। इसी आधार पर जीव का कर्म के साथ दो प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है।

कर्म के भेद

कर्मों के दो भेद हैं—द्रव्य कर्म और भाव-कर्म। कर्म वर्गणा केपुदगलों का सूक्ष्म विकार द्रव्य कर्म है और आत्मा के राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणाम भाव कर्म हैं। राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणामों का उपादान कारण जीव है, इसलिये उपादान रूप से भाव कर्म का कर्ता जीव ही है। द्रव्य कर्म में जीव के शुभाशुभ भाव निमित्त कारण हैं। इसलिये निमित्त रूप से द्रव्य कर्म का कर्ता भी जीव ही है। भाव कर्म के होने में पूर्वबद्ध द्रव्य निमित्त हैं और वर्तमान में बध्यमान द्रव्य कर्म में भाव-कर्म निमित्त हैं। दोनों में निमित्त-नैमित्तिक रूप कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्र ने स्वप्रणीत "गोम्मटसार" ग्रंथ के कर्मकाण्ड में द्रव्य कर्म और भाव कर्म का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

"पोग्गलपिण्डो दव्वं तत्सत्ति भाव-कम्मं तु"

पुद्गल पिंड को द्रव्य कर्म और उसकी फल देने की शक्ति विशेष को भाव कर्म कहा है।

कर्म के अस्तित्व में प्रमाण

प्रश्न होता है कि हम इस तथ्य को कैसे समझे कि कर्म का अस्तित्व होता है? कम भौतिक होते हुए भी इतना सूक्ष्म तत्व है कि इन्द्रियों से उसे जाना और देखा नहीं जा सकता। जो ज्ञान ऐन्द्रियक नहीं है, उन्हीं के द्वारा कर्म का साक्षात्कार हो सकता है। हां, हेतु और तर्क द्वारा भी कर्म के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है।

संसार के सभी जीव एक जैसे नहीं होते, जीवों की यह विविधता ही और संसार की यह विचित्रता ही, कर्म के अस्तित्व में सबसे बड़ा प्रमाण है। जैन कर्म-सिद्धान्त के अनुसार कर्म के अस्तित्व में प्रमाण इस प्रकार माना गया है कि संसार के सभी जीव आत्म-स्वरूप की अपेक्षा से भले ही एक हैं फिर भी वे भिन्न-भिन्न योनियों में और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में होने से पृथक्-पृथक् स्थिति एवं दशा में होते हैं। एक राजा है, दूसरा रंक। एक विद्वान है, दूसरा मूर्ख। एक निरोग है, दूसरा रोगी। एक सुखी है, दूसरा दुखी। एक सुन्दर है, दूसरा कुरूप। अधिक क्या, एक ही माता के उदर से उत्पन्न हुए और एक ही परिस्थिति में पले हुए दो बालकों में से एक धनी हो जाता है, दूसरा निर्धन रह जाता है। एक मूर्ख रह जाता है, दूसरा विद्वान हो जाता है। यह विषमता, यह विचित्रता, और यह असमानता अकारण नहीं हो सकती। उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिये और वह कारण दूसरा कुछ नहीं कर्म ही है। जिस प्रकार बीज के बिना अंकुर नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्म के बिना सुख-दुखः भी नहीं हो सकते। संसार में सुख और दुःख प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। दो व्यक्ति जो कि समान स्थिति में रहते हैं, उनमें भी देखा जाता है कि एक सुखी है और दूसरा दुखी रहता है। आखिर इस सुख दुःख का कारण कोई तो अवश्य होना ही चाहिये और वह कारण कर्म ही हो सकता है।

प्रश्न किया जा सकता है, कि सुख-दुःख कारण तो इस लोक में प्रत्यक्ष ही है, उसके लिये कर्म मानने की आवश्यकता ही क्या? जिसके पास वस्त्र मिल जाने पर सुखानुभूति होती है। जिसके पास भोजन नहीं है, उसे भोजन मिल जाने पर सुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार मान और सम्मान भी सुख के कारण बन जाते हैं। इसके विपरीत भौतिक साधनों के अभाव में मनुष्य दुःख का अनुभव करने लगता है, अतः भौतिक वस्तुओं के सद्-भाव सुख और असद्भाव से दुःख प्रत्यक्ष देखा जाता है। फिर उस सुख-दुःख के कारण रूप में अदृश्यभूत कर्म की कल्पना क्यों की जाय? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार से किया गया है कि सुख एवं दुःख के बाह्य-दृष्ट साधनों से भी परे हमें सुख-दुःख के कारणों की खोज इसलिये करनी पड़ती है कि सुख-दुःख की समान सामग्री प्राप्त होने पर भी मनुष्यों के सुख-दुःख में अन्तर देखा जाता है। एक व्यक्ति सुख के कारण प्राप्त करने पर भी सुखी नहीं रहता और दूसरा व्यक्ति दुःख के साधन मिलने पर भी सुखी रहता है। अतः बाह्य वस्तुओं के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा किसी आंतरिक कारण से ही इसका समाधान किया जा सकता है। एक व्यक्ति को जीवन में सुख के कारण प्राप्त होते हैं और दूसरे को दुःख के कारण। इसका भी कोई नियामक होना चाहिये और वह कर्म ही हो सकता है। कर्म के अस्तित्व में एक यह भी तर्क दिया जाता है कि दान आदि क्रिया फलवती होती है क्योंकि वह चेतन के द्वारा की जाती है। जो क्रिया चेतन के द्वारा की जाती है वह अवश्यमेव फलवती होती है। जैसे, कृषि आदि। दान आदि क्रिया भी चेतनकृत होने से फलवती होनी चाहिये। दान आदि क्रिया का फल शुभ कर्म के अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता। जिस प्रकार अध्ययन क्रिया का फल ज्ञान संचय होता है, उसी प्रकार कर्म के फल सुख-दुःख आदि ही होते हैं।

कर्म की मूर्तता

जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार द्रव्य कर्म को मूर्त माना गया है। जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श यह चार गुण हों वह पदार्थ मूर्त होता है। पुद्गल में ये चारों गुण विद्यमान हैं। अतः छः द्रव्यों में पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य कर्म पुद्गलजन्य है, अतः मूर्त है। कारण यदि मूर्त है तो उसका कार्य भी मूर्त ही होता है। जैसे मिट्टी एक मूर्त उपादान कारण है तो उसका कार्य घट भी मूर्त ही होता है। कारण के अनुसार कार्य ही होता है। कारण मूर्त है तो कार्य भी मूर्त ही होगा और यदि कारण अमूर्त है तो कार्य भी अमूर्त ही होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण से जैसे कार्य का अनुमान होता है उसी प्रकार कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर आदि कार्य मूर्त हैं तो उनका कारण कर्म भी मूर्त ही होना चाहिये। ज्ञान अमूर्त है तो उसका उपादान कारण आत्मा भी अमूर्त है। दोनों ही पद्धतियों से कर्म का मूर्तत्व सिद्ध है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जिस प्रकार शरीर आदि कर्म के कार्य हैं उसी प्रकार सुख-दुःख भी कर्म के ही कार्य हैं, पर वे अमूर्त हैं। फिर आपका कार्य-कारण सम्बन्धी उक्त नियम स्थिर कैसे रह सकता है? उक्त शंका का समाधान यही है कि सुख-दुःख आदि आत्मा के धर्म हैं और आत्मा ही उनका उपादान कारण है। कर्म तो सुख-दुःख में निमित्त कारण ही होता है, उपादान कारण नहीं। अतः उक्त नियम में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती। कर्म की मूर्तता सिद्ध करने के लिये कुछ तर्क इस प्रकार दिये जा सकते हैं—कर्म मूर्त हैं, क्योंकि उसके सम्बन्ध से सुख-दुःख आदि का भान होता है, जैसे भोजन से। कर्म मूर्त है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से वेदना होती है, जैसे अग्नि से। कर्म मूर्त है क्योंकि उसके सम्बन्ध से आत्मा को सुख-दुःख भोगना पड़ता है। यदि कर्म अमूर्त होता तो वह गगन जैसा होता। जैसे गगन से किसी का उपघात और अनुग्रह नहीं होता, वैसे कर्म से भी उपघात और अनुग्रह नहीं होना चाहिये। परन्तु कर्म से होने वाले उपघात और अनुग्रह प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अतः कर्म मूर्त ही है।

मूर्त का अमूर्त पर प्रभाव

यदि कर्म मूर्त है. जड़ है, तो फिर वह अमूर्त एवं चेतन स्वरूप आत्मा पर अपना प्रभाव कैसे डालता है? जिस प्रकार वायु और अग्नि का अमूर्त आकाश पर किसी भी प्रकार प्रभाव नहीं पड़ना चाहियें। इसका उत्तर इतना ही है कि जैसे अमूर्त ज्ञान आदि गुणों पर मूर्त मदिरा आदि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही अमूर्त जीव पर मूर्त कर्म का प्रभाव पड़ सकता है। उक्त प्रश्न का एक दूसरा समाधान इस प्रकार से किया गया है कि कर्म के सम्बन्ध से आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। क्योंकि संसारी आत्मा का अनादि काल से कर्म-संतति से सम्बन्ध है। इस अपेक्षा से आत्मा का सर्वथा अमूर्त नहीं है, अपितु कर्म-संबद्ध होने के कारण मूलतः अमूर्त होते हुए भी कथंचित् मूर्त है। इस दृष्टि से अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म का उपघात, अनुग्रह और प्रभाव पड़ता है।

अमूर्त का मूर्त से सम्बन्ध

प्रश्न होता है कि आत्मा अपने मूल स्वरूप से जब अमूर्त है और कर्म जब अपने स्वरूप से मूर्त है, तब फिर अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से संबन्ध कैसे हो जाता है। उक्त प्रश्न के समाधान में कहा जाता है कि—जैसे मूर्त घट का अमूर्त आकाश के साथ संबन्ध असंभव नहीं है, वैसे ही अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्म से संबन्ध असंभव नहीं कहा जा सकता है। इस संबन्ध में एक दूसरा तर्क यह है कि, जिस प्रकार अंगूठी आदि मूर्त द्रव्य का आकुंचन आदि अमूर्त क्रिया से संबन्ध होता है, उसी प्रकार अमूर्त जीव का मूर्त कर्म के संबन्ध होने में किसी भी प्रकार विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। एक तीसरा तर्क यह भी हो सकता है कि आत्मा और कर्म दोनों अगुरु-लघु होते हैं, इसलिए उनका परस्पर संबन्ध हो सकता है।

जीव और कर्म का संबन्ध

जीव और कर्म का संबन्ध कैसे होता है इस संबन्ध में तीन प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं—पहला है नीर-क्षीरवत्। जैसे जल और दुग्ध परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हो जाते हैं। दूसरा विचार है—अग्निलौहपिंडवत्। जिस प्रकार लौह-पिंड को अग्नि में डाल देने से उसके कण-कण में अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असंख्यात प्रदेशों पर अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणा के कर्म दलित संबन्ध हो जाते हैं, संश्लिष्ट हो जाते हैं। तीसरा विचार है—सर्प-कंचुकीवत्। जिस प्रकार सर्प का उसकी कांचली के साथ संबन्ध होता है उसी प्रकार आत्मा का भी कर्म के साथ संबन्ध हो जाता है। यह तृतीय अभिमत जैन परंपरा के ही एक विद्रोही विचारक सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल का है। मूलतः जैन दर्शन में और कर्मग्रन्थों में इस अभिमत को स्वीकार नहीं किया गया है।

कर्म और उसका फल

हम देखते हैं कि संसार में जितने भी जीव हैं, वे दो ही प्रकार के कर्म करते हैं—शुभ और अशुभ। अच्छा और बुरा। कर्मशास्त्र के अनुसार शुभ कर्म का फल अच्छा और अशुभ कर्म का फल बुरा होता है। आश्चर्य है, कि सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दुखः रूप फल कोई जीव नहीं चाहता। अस्तु यहाँ एक प्रश्न उठता है, कि कर्म स्वयं जड़ है, वह चेतन नहीं है, तब वह फल कैसे दे सकता है? क्योंकि फल-प्रदान चेतन की बिना प्रेरणा के नहीं हो सकता। और यदि स्वयं कर्म कर्ता चेतन ही भोग लेता है, तो वह सुख तो भोग सकता है, परन्तु दुःख स्वयं कैसे भोगेगा? दुःख तो कोई भी नहीं चाहता। अतः कर्मवादी अन्य दार्शनिकों ने कर्मफल भोग करने वाला ईश्वर माना है। परन्तु जैन दार्शनिक इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। फिर जैन-दर्शन में कर्म-फल की क्या व्यवस्था रहेगी? इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है कि—प्राणी अपने अशुभ कर्म का फल नहीं चाहता यह ठीक है, पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन में कर्म में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कर्म अपने शुभाशुभ फल को नियत समय पर स्वयं ही प्रकट कर देता है। जैन दर्शन यह नहीं मानता कि जड़ कर्म चेतन के संसर्ग बिना भी फल देने में समर्थ है। कर्म स्वयं ही अपना फल प्रदान करने की सामर्थ्य रखता है। प्राणी जैसे भी कर्म करते हैं, उनका फल उन्हें उन्हीं के कर्मों द्वारा स्वतः मिल जाता है। जिस प्रकार जीभ पर मिर्च रखने के बाद उसकी तिक्तता का अनुभव स्वतः होता है। व्यक्ति के न चाहने पर मिर्च का स्वाद नहीं आए, यह नहीं हो सकता। उस मिर्च के तीखेपन का अनुभव कराने के लिए किसी अन्य चेतन आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी आवश्यकता नहीं पड़ती। यही बात कर्म-फल भोगने के विषय में भी समझ लेनी चाहिये। इस संबन्ध में बौद्ध-साहित्य में भी बहुत कुछ कहा गया है।

मिलिन्द और नागसेन

राजा मिलिन्द स्थविर नागसेन से पूछता है कि—भन्ते ! क्या कारण है कि सभी मनुष्य समान नहीं होते हैं। कोई कम आयुवाला, कोई दीर्घ आयु वाला, कोई बहुत रोगी, कोई नीरोग, कोई भद्दा, कोई बड़ा सुन्दर, कोई प्रभावहीन, कोई प्रभावशाली, कोई निर्धन, कोई धनी, कोई नीच कुल वाला, कोई मूर्ख और कोई विद्वान क्यों होते हैं? उक्त प्रश्नों का उत्तर स्थविर नागसेन ने इस प्रकार दिया है—राजन् ! क्या कारण है कि सभी वनस्पति एक जैसी नहीं होती कोई खट्टी, कोई नमकीन, कोई तीखी कोई कड़वीं, कोई कसेली और कोई मीठीं क्यों होती हैं? मिलिन्द ने कहा—मैं समझता हूँ कि बीजों के भिन्न-भिन्न होने से ही वनस्पति भी भिन्न-भिन्न होती हैं। नागसेन ने कहा—राजन् ! जीवों की विविधता का कारण भी उनका अपना कर्म ही होता है। सभी जीव अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं। सभी जीव अपने कर्मों के अनुसार ही नाना गति और योनियों में उत्पन्न होते हैं। राजा मिलिन्द और नागसेन के इस संवाद से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म अपना फल स्वयं ही प्रदान करता है। "मिलिन्द-प्रश्न" एक बौद्धग्रन्थ है। उसमें यह संवाद दिया गया है।

चेतन का संबन्ध पाकर कर्म स्वयं ही अपना फल देता है और आत्मा उसका फल भोगता है। जैन-दर्शन का यह सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन में भी स्वीकार किया गया है, जिसका स्पष्ट उल्लेख हमें राजा मिलिन्द और स्थविर नागसेन के संवाद में उपलब्ध होता है। जैन दर्शन के अनुसार किसी भी कर्म के फल भोग के लिए कर्म और उसके करने वाले के अतिरिक्त किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि कर्म करते समय ही जीव के परिणाम के अनुसार इस प्रकार का संस्कार पड़ जाता है, जिससे प्रेरित होकर जीव अपने कर्म का फल स्वयं भोग लेता है और कर्म भी चेतन से संबद्ध होकर अपने फल को अपने आप ही प्रकट कर देता है। कुछ दार्शनिक यह भी मानते हैं कि-काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पांच समवायों के मिलने से जीव कर्म-फल भोगता है। इन सब तर्कों से सिद्ध हो जाता है कि जीव के संयोग से कर्म अपना फल स्वतः ही देता है।

शुभ और अशुभ कर्म

जैन दर्शन के अनुसार कर्म वर्गणा के परमाणु लोक में सर्वत्र भरे हैं। उनमें शुभत्व और अशुभत्व का भेद नहीं है, फिर कर्म पुद्गल परमाणुओं में शुभत्व अशुभत्व का भेद कैसे पैदा हो जाता है? इसका उत्तर यह है कि—जीव अपने शुभ और अशुभ परिमाणों के अनुसार कर्म वर्गणा के दलिकों को शुभ और अशुभ रूप में परिणित करता हुवा ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम एवं विचार ही, कर्मों की शुभता एवं अशुभता के कारण हैं। इसका अर्थ यह है कि—कर्म पुद्गल स्वयं अपने आप में शुभ और अशुभ नहीं होता बल्कि जीव का परिणाम ही उसे शुभ और अशुभ बनाता है। दूसरा कारण है, आश्रय का स्वभाव। कर्म के आश्रयभूत संसारी जीव का भी यह वैभाविक स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभ एवं अशुभ रूप में परिणित करके ही ग्रहण करता है। इसी कारण कर्मों में भी कुछ ऐसी योग्यता रहती है कि वे शुभ एवं अशुभ परिणाम सहित जीव से ग्रहण किए जाकर ही, शुभ एवं अशुभ रूप में परिणित होते रहते हैं, बदलते रहते हैं एवं परिवर्तित होते रहते हैं। पुद्गल शुभ से अशुभ रूप में और अशुभ से शुभ रूप में कैसे परिणत हो जाते हैं? इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है:—

प्रकृति, स्थिति, और अनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशों के अल्पबहुत्व का भी भेद जीव कर्म ग्रहण के समय ही करता है। इस तथ्य को समझने के लिये आहार का दृष्टान्त दिया जाता है। सर्प और गाय को भले ही एक जैसा भोजन एवं आहार दिया जावे, किन्तु उन दोनों की परिणति विभिन्न प्रकार की होती है। कल्पना कीजिए सर्प और गाय को एक साथ और एक जैसा दूध पीने के लिये दिया गया, वह दूध सर्प के शरीर में विष रूप में परिणित होता है और गाय के शरीर में दूध, दूध रूप में परिणित होता है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि—आहार का यह स्वभाव है कि वह अपने आश्रय के अनुसार परिणत होता रहता है। एक ही समय में पड़ी वर्षा की बूंदों का आश्रय भेद से भिन्न-भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसे कि स्वाति नक्षत्र में गिरी बूंदें सीप के मुख में जाकर मोती बन जाती है और सर्प के मुख में विष। यह तो भिन्न-भिन्न शरीरों में आहार की विचित्रता दिखलाई किन्तु एक शरीर द्वारा ग्रहण किया हुवा एक आहार अस्थि, मजजा, एवं मलमूत्र आदि सार-असार विविध रूपों में परिणित हो जाता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किए जाने पर शुभ एवं अशुभ रूप में परिणित हो जाते हैं। एक ही पुद्गल वर्गणा में विभिन्नता का हो जाना सिद्धान्त बाधित नहीं कहा जा सकता है।

जीव का कर्म से अनादि सम्बन्ध

प्रश्न होता है, आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। इस चेतन आत्मा का इस जड़ कर्म के साथ संबंध कब से है? इसके समाधान में कहा गया है कि—कर्म संतति का आत्मा के साथ अनादि काल से संबंध है, यह नहीं बता सकते हैं, कि जीव से कर्म का सम्बन्ध सर्वप्रथम कब और कैसे हुवा। शास्त्र में यह कहा गया है, कि जीव सदा क्रियाशील रहता है। वह प्रतिक्षण मन, वचन और काय से योग रूप व्यापार में प्रवृत्त रहता है। अतः वह प्रति समय कर्म बंध करता ही रहता है। इस प्रकार अमुक कर्म विशेष दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का संबंध सादि भी कहा जा सकता है। परन्तु कर्म संतति की अपेक्षा से जीव के साथ कर्म का अनादि काल से संबंध है। प्रशिक्षण पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म बंधते रहते हैं।

यदि कर्म संतति को सादि मान लिया जाय तो फिर कर्म संबंध से पूर्व जीव सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त दशा में रहा होगा। फिर वह कर्म से लिप्त कैसे हो गया? यदि अपने शुद्ध स्वरूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थित जीव कर्म से लिप्त हो सकता है तो सिद्ध आत्मा भी कर्म से लिप्त क्यों नहीं हो जाते ? इस प्रकार संसार और मोक्ष का कोई महत्व नहीं रहेगा, कोई व्यवस्था नहीं रहेगी । इसके अतिरिक्त कर्म संतति को सादि मानने वालों को यह भी बताना होगा कि कब से कर्म आत्मा के साथ लगे और क्यों लगे । इस प्रकार किसी प्रकार का समाधान नहीं किया जा सकता । इन सब तर्कों से यही सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ कर्म का अनादि काल से संबंध रहा है ।

कर्म बन्ध के कारण

प्रश्न होता है कि यह मान लिया जाय कि जीव के साथ कर्म का अनादि संबंध है। परन्तु इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह प्रश्न सामने आता है कि बन्ध किन कारणों से होता है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कर्म ग्रंथों में दो अभिमत उपलब्ध होते हैं– पहला कर्म बन्ध कारण पांच मानता है–जैसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । दूसरा केवल कर्म बन्ध के कारण दो ही मानता है--कषाय और योग । यहां पर यह समझ लेना चाहिये कि कषाय में मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद अन्तर्गत हो जाते हैं। अतः संक्षेप की दृष्टि से कर्म बंधन के हेतु दो और विस्तार की अपेक्षा से कर्म बन्धन के हेतु पांच हैं । दोनों अभिमतों में कोई मौलिक भेद नहीं है ।

कर्म-ग्रंथों में बंध के चार भेद बताए गये हैं ।–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। इनमें से प्रकृति और प्रदेश का बंध कषाय से होता है। और स्थिति एवं अनुभाग का बंध योग से होता है। जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने बनाये हुए जाले में फंस जाती है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति से अपने आपको कर्म पुद्गल के जाल में फंसा लेता है। कल्पना कीजिये, एक व्यक्ति अपने शरीर में तेल लगा कर यदि धूलि में लेटे तो धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है, इसी प्रकार आत्मा के राग-द्वेष रूप परिणामों से जीव भी पुद्गलों को ग्रहण करता है और कषाय भाव के कारण उन कर्म–दलिकों का आत्म प्रदेशों के साथ संश्लेष हो जाता है । और वस्तुतः यही बन्ध है । जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में कर्म बन्ध के कारण माया, अविद्या, अज्ञान और वासना को माना गया है। परन्तु शब्द भेद और प्रक्रिया भेद होने पर भी मूल भावनाओं में अधिक मौलिक भेद नहीं है । न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति और पुरुष के संयोग को, वेदान्त में अविद्या एवं अज्ञान को तथा बौद्ध दर्शन में वासना को कर्म बन्ध का कारण माना गया है ।

मोक्ष के साधन

भारतीय दर्शन में जिस प्रकार कर्म-बन्ध और कर्म-बन्ध के कारण माने गए हैं, उसी प्रकार मुक्ति और मुक्ति के उपाय भी माने गए हैं । मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण प्रायः समान अर्थों में प्रयुक्त होते हैं । बन्धन से विपरीत दशा को ही मुक्ति एवं मोक्ष कहा जाता है । यह ठीक है, कि जीव के साथ कर्म का प्रतिक्षण बन्ध होता है । पुरातन कर्म अपना फल दे कर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म प्रति समय बंधते जाते हैं । परन्तु इसका फलितार्थ यह नहीं निकालना चाहिए कि आत्मा कभी कर्मों से मुक्त होगी ही नहीं । जैसे स्वर्ण और मिट्टी परस्पर मिल कर एकमेव हो जाते हैं, किन्तु ताप आदि की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार मिट्टी को अलग करके शुद्ध स्वर्ण को अलग कर लिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा अध्यात्म साधना के कर्म-फल से छूट कर शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो सकता है । यदि एक बार कर्म-विमुक्त हो जाता है, तो फिर कभी वह कर्म-बद्ध नहीं होता । क्योंकि कर्म-बन्ध के कारणीभूत साधनों का सर्वथा अभाव हो जाता है । जैसे बीज के सर्वथा जल जाने पर उससे फिर अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही कर्म रूपी बीज के जल जाने पर उससे संसार रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो आत्मा एक दिन बद्ध हुआ है, वह आत्मा एक दिन कर्मों से विमुक्त भी हो सकता है ।

प्रश्न होता है कि कर्म-बन्धन से छूटने के उपाय क्या हैं ? उक्त प्रश्न के समाधान में जैन दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति के तीन साधन एवं उपाय बतलाता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र । कहीं पर यह भी कहा गया है कि "ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः" ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की उपलब्धि होती है । ज्ञान और क्रिया को मोक्ष हेतु मानने का यह अर्थ नहीं है कि सम्यग्दर्शन को मानने से इंकार कर दिया हो । जैन दर्शन के अनुसार जहां जहां पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है, वहां पर सम्यग्दर्शन अवश्य ही होता है । आगमों में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ तप को भी मोक्ष प्राप्ति एवं मुक्ति की उपलब्धि में उपाय व कारण माना गया है । इस अपेक्षा से जैन दर्शन में मोक्ष के हेतु दो एवं चार सिद्ध होते हैं । परन्तु गंभीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है, कि वास्तव में मोक्ष के हेतु तीन ही हैं–श्रद्धान, ज्ञान और आचरण । बद्ध कर्मों से मुक्त होने के लिए साधक संवर की साधना से नवीन कर्मों के आगमन को रोक देता है और निर्जरा की साधना के पूर्व संचित कर्मों को धीरे धीरे नष्ट कर देता है । समस्त कर्मों का सर्वतोभावेन नष्ट हो जाना ही मोक्ष एवं मुक्ति है । कर्म-मल-विमुक्त आत्मा ही जैन दर्शन के अनुसार अन्त में परमात्मा हो जाता है ।

कर्मवाद की उपयोगिता

प्रश्न होता है कि आखिर जीवन में कर्मवाद की उपयोगिता क्या है ? कर्मवाद को क्यों स्वीकार किया जाय ? उक्त प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा गया है कि–कर्मवाद मानव-जीवन में आशा एवं स्फूर्ति का संचार करता है । मानव को विकास पथ पर बढ़ाने के लिए उत्साह प्रदान करता है । कर्मवाद की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि वह मानव आत्मा को दीनता एवं हीनता के गहरे गड्ढे से निकाल कर विकास के चरम शिखर पर पहुंचाने की सतत प्रेरणा करता है । जब मानव जीवन हताश और निराश हो जाता है, अपने चारों ओर उसे अंधकार ही अंधकार दृष्टिगोचर होता है, जबकि गन्तव्य मार्ग का परिज्ञान भी विलुप्त हो जाता है, उस समय उस विव्हल आत्मा को कर्मवाद धैर्य और शांति प्रदान करता है । वह कहता है कि मानव यह सब तूने स्वयं ने किया है और जो कुछ किया है, उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फल भी तुझे ही स्वयं भोगना है। कभी यह हो नहीं सकता है कि कर्म तू स्वयं करे और उसका फल भोगनेवाला कोई दूसरा आए। जब मनुष्य अपने दुख और कष्ट में स्वयं अपने को कारण मान लेता है, तब उस कर्म के फल भोगने की शक्ति भी उसमें प्रकट हो जाती है। इस प्रकार कर्मवाद पर पूर्ण विश्वास हो जाने के बाद जीवन में से निराशा, तमिस्रा और आत्म-दीनता दूर हो जाती है। उसके लिए जीवन भोगभूमि न रह कर कर्तव्य-भूमि बन जाता है। जीवन में आने वाले सुख एवं मोक्ष के झंझावातों से उसका मन प्रकम्पित नहीं होता। कर्मवाद हमें यह बताता है कि आत्मा को सुख-दुख की गलियों में घुमानेवाला मनुष्य का कर्म है और यह कर्म मनुष्य के ही अतीत कर्मों का अवश्यंभावी परिणाम है। हमारी वर्तमान अवस्था जैसी और जो कुछ भी है, वह दूसरों द्वारा हम पर लादी नहीं गई है, बल्कि हम स्वयं उसके निर्माता हैं। मानव जीवन में जो कुछ भी सुख एवं दुख की अवस्थाएं आती हैं, उनका बनानेवाला कोई अन्य नहीं स्वयं मनुष्य ही है। अतएव जीवन में जो उत्थान और पतन आता है, जो विकास और ह्रास आता है तथा जो सुख और दुख आता है, उस सबका दायित्व हम पर है, किसी और दूसरे पर नहीं। एक दार्शनिक कहता है—"मैं स्वयं अपने भाग्य का निर्माता हूं। मैं स्वयं अपनी आत्मा का अधिनायक एवं अभिनेता हूं।" मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे कोई किसी अन्य मार्ग पर नहीं चला सकता। मेरे मन का पतन ही मेरा पतन है। मुझे न कोई उठानेवाला है और न गिरानेवाला। मैं स्वयं ही अपनी शक्ति से उठता हूं और स्वयं ही अपने शक्ति से गिरता भी हूं। अपने जीवन में मनुष्य जो कुछ जैसा और जितना पाता है, वह सब कुछ उसकी बोई हुई खेती का अच्छा या बुरा फल है। अतः जीवन में हताश, निराश, दीन और हीन बनने की आवश्यकता ही नहीं।

कर्मवाद और पुरुषार्थ

एक प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगता है फल भोगे बिना छुटकारा संभव नहीं है, तब सुख प्राप्ति के लिये और दुःख निवृत्ति के लिये किसी प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ ही है? भाग्य में जो कुछ लिखा है, वह होकर ही रहेगा, वह कभी टल नहीं सकता, फिर किसी भी प्रकार की साधना करने का अर्थ ही क्या रहेगा? क्या कर्मवाद का यह मन्तव्य आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता है। उसके समाधान में कहा जाता है कि—व्यवहार दृष्टि से यह सत्य है कि अच्छा या बुरा कर्म कभी नष्ट नहीं होता यह भी सत्य है कि प्रत्येक कर्म अपना फल अवश्य ही देता है। जो तीर हाथ से निकल चुका है, वह वापिस लौट कर हाथ में नहीं आता है। परन्तु निश्चय दृष्टि से जिस प्रकार सामने से वेग के साथ आता हुआ तीर पहले वाले से टकरा कर उसके वेग को रोक देता है, या उसकी दिशा को ही बदल देता है, ठीक उसी प्रकार कर्म भी शुभ एवं अशुभ परिणामों से कम और अधिक शक्ति वाले हो जाते हैं। दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और कभी-कभी निष्फल भी हो जाते हैं। जैन दर्शन में कर्म की विविध अवस्थाओं का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार कर्म की उन विविध अवस्थाओं में एक निकाचित अवस्था ही ऐसी है, जिसमें कृत कर्म का फल अवश्य ही प्राप्त होता है। जैन दर्शन के कर्मवाद का मन्तव्य है कि आत्मा अपने प्रयत्न विशेष से अन्य विभिन्न कार्मिक अवस्थाओं में परिवर्तन कर सकता है। प्रकृति और प्रदेश, स्थिति और अनुभाग में परिवर्तन कर सकता है। एक कर्म को दूसरे कर्म के रूप में भी बदल सकता है। दीर्घ स्थिति वाले कर्म को ह्रस्व स्थिति में और तीव्र रस वाले कर्म को मन्द रस में बदल सकता है। बहु-दलिक कर्म को अल्प दलिक बना सकता है। जैन दर्शन के कर्मवाद के अनुसार कुछ कर्मों का वेदन (फल) विपाक से न होकर प्रदेश से ही हो जाता है। कर्मवाद के संबंध से उक्त कथन इस तथ्य को सिद्ध करता है कि कर्मवाद आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता है, बल्कि पुरुषार्थ के लिये और अधिक प्रेरित करता है। पुरुषार्थ और प्रयत्न करने पर भी जब फल की उपलब्धि न हो, तब वहां कर्म की प्रबलता समझ कर धैर्य रखना चाहिये और यह विचार करना चाहिये कि मेरा पुरुषार्थ कर्म की प्रबलता के कारण भले ही आज सफल न हुआ हो, किन्तु कालान्तर में एक जन्मान्तर में वह अवश्य ही सफल होगा। कभी-कभी जीवन में कुछ ऐसी विचित्र स्थिति आ जाती है कि मनुष्य किसी वस्तु की उपलब्धि के लिए प्रयत्न तो करता है, किन्तु उसे उसमें सफलता नहीं मिलती। फलतः वह हताश और निराश होकर बैठ जाता है। किन्तु जीवन की यह स्थिति बड़ी ही विचित्र एवं विडंबना पूर्ण है। क्योंकि वह मनुष्य यह विचार करता है कि मेरा पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ भाग्य में लिखा है, वह हो कर ही रहेगा। इस प्रकार की विषम स्थिति में साधक को कर्मवाद के संदर्भ में यह विचार करना चाहिये कि आज मेरा जो कर्म मुझे अच्छा या बुरा फल दे रहा है, आखिर वह कर्म भी तो मेरे अपने पुरुषार्थ से ही बना है। आज का पुरुषार्थ कल का कर्म बन जाता है। अतः पुरुषार्थ का परित्याग करके अपने जीवन की बागडोर को भाग्यवाद के हाथों में सौंप कर मनुष्य वीर्यहीन एवं शक्तिहीन बन जाता है। मनुष्य के जीवन की इससे अधिक भयंकर विडंबना और विषमता क्या हो सकती है कि वह एक चेतना-पुंज हो कर भी, अनन्त शक्ति का अधिनायक होकर भी जड़ कर्म के अधीन बन जाता है। पुरुषार्थवाद-मूलक कर्मवाद हमें उत्साहवर्धक प्रेरणा देता है कि भाग्यवाद से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब आपके इस भाग्य का निर्माण आपके अतीत काल के पुरुषार्थ से हुआ है, तब आप यह विश्वास क्यों नहीं करते कि भविष्य में अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से अपने भाग्य को बदल भी सकता हूं। बुरे से अच्छा भी बन सकता हूं। जैन-दर्शन के कर्मवाद में मनुष्य अपने भाग्य की एवं नियति चक्र की कठपुतली मात्र नहीं है, इस आधार पर वह अपनी विवेक शक्ति से तथा अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से अपने कर्म को, अपने भाग्य को और अपने नियति चक्र को वह जैसा चाहे वैसा बदलने की क्षमता, योग्यता और शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखता है। अतः जैन-दर्शन के कर्मवाद में पुरुषार्थवाद एवं प्रयत्नवाद को पर्याप्त अवकाश है।

ईश्वर और कर्मवाद

ईश्वरवादी दर्शनों के अनुसार ईश्वर जीवों के कर्मों के अनुसार ही उनके सुख-दुःख की व्यवस्था करता है। यह नहीं, कि अपने मन से ही वह किसी को मूर्ख बनाए और किसी को विद्वान। किसी को कुरूप बनाए और किसी को सुन्दर। किसी को राजा बनाये तो किसी को रंक। किसी को रोगी बनाये तो किसी को स्वस्थ। किसी को विपन्न बनाए तो किसी को सम्पन्न। जैसे जीवन के भलेबुरे कर्म होते हैं, वैसे ही वह व्यवस्था कर देता है। किसी भी जीव के जीवन में जब वह किसी भी प्रकार का परिवर्तन करता है, तब पहले वह उस जीव के कर्मों का लेखा-जोखा देख लेता है, उसी के अनुसार वह उसमें परिवर्तन कर सकता है। निश्चय ही यह उस सर्व शक्तिमान ईश्वर के साथ एक खिलवाड़ है। एक तरफ उसे सर्व शक्तिमान मानना और दूसरी ओर उसे स्वतंत्र होकर अणुमात्र भी परिवर्तन का अधिकार न देना निश्चय ही ईश्वर की महत्ती विडंबना है। यहां पर इस कथन से यह सिद्ध होता है कि कर्म की शक्ति ईश्वर से भी अधिक बलवती है। ईश्वर को भी उसके अधीन हो कर चलना पड़ता है। ईश्वर पर भी कर्मों का नियंत्रण हो गया। दूसरी ओर कर्म भी कुछ नहीं कर सकता। वह किसी चेतना शक्तिशाली का सहारा ले कर ही अपना फल देता है। इस प्रकार कर्म ईश्वर के अधीन और ईश्वर कर्म के अधीन बन जाता है। इसकी अपेक्षा स्वयं में ही अपने फल देने की बात क्यों न स्वीकार कर ली जाए, जिससे ईश्वर का ईश्वरत्व भी सुरक्षित रहे और कर्मवाद में भी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। जैन-दर्शन के अनुसार कर्म स्वयं अपना फल देता है, उसे फल देने के लिये किसी अन्य व्यक्ति एवं अन्य शक्ति की अपेक्षा नहीं रहती। कर्म स्वयं अपनी शक्ति से समय आने पर फल प्रदान कर देता है। ठीक उसी प्रकार जैसे भंग पीने पर वह स्वयं यथासमय अपना फल नशे के रूप में प्रदान करती है। नशा चढ़ने के लिये भंग किसी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा और आवश्यकता नहीं समझती।

कर्मवाद और अध्यात्म शास्त्र

कर्मवाद अध्यात्मशास्त्र के विशाल एवं विराट भव्य भवन की आधार-शिला है। कर्मवाद हमें यह बतलाता है कि आत्मा किसी भी शक्तिशाली और रहस्यपूर्ण व्यक्ति की इच्छा के अधीन नहीं है। कर्मवाद हमें प्रेरणा देता है कि, अपने संकल्प और विचार की पूर्ति के लिये किसी अन्य व्यक्ति के द्वार खटखटाने की आवश्यकता नहीं है। आपको जो कुछ भी पाना है वह आपके अन्दर से उपलब्ध होगा, कहीं बाहर से नहीं। इस विशाल विश्व में कौन किसको क्या दे सकता है। भीख मांगने से जीवन का कभी उत्थान नहीं हो सकता। किसी की दया एवं करुणा पर क्या कभी किसी का उत्थान एवं विकास हुआ है? कर्मवाद कहता है कि अपने पापों का नाश करने के लिये एवं अपने उत्थान के लिये हमें किसी शक्ति के आगे दया की भीख मांगने की आवश्यकता नहीं है। और न किसी के आगे रोने तथा गिड़गिड़ाने की ही आवश्यकता है। कर्मवाद का यह भी मन्तव्य है कि संसार की समग्र आत्माएं अपने स्वरूप से एक समान हैं, उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। फिर भी इस दृश्यमान जगत में जो कुछ विभेद नजर आता है, वह सब कर्मकृत है। जैन-दर्शन के कर्मवाद के अनुसार जो आत्मा विकास की चरम सीमा पर पहुंच जाती है, वह परमात्मा बन जाती है। आत्मा की शक्ति कर्म से आवृत्त होने के कारण अविकसित रहती है और आत्मबल द्वारा कर्म के आवरण को दूर कर देने पर उस शक्ति का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच कर आत्मा परमात्म-स्वरूप को उपलब्ध कर लेता है। आत्मा किस प्रकार कर्मों से आवृत्त होता है और वह किस प्रकार उससे विमुक्त होता है, यह सब कुछ आपको कर्म-शास्त्र के गंभीर अध्ययन से परिज्ञात हो सकता है।

व्यवहार में कर्मवाद

मानव-जीवन के दैनिक व्यवहार में कर्मवाद कितना उपयोगी है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। कर्म-शास्त्र के पंडितों ने अपने-अपने युग में इस समस्या पर विचार-विमर्श किया है। हम अपने दैनिक व्यवहार में प्रतिदिन देखते हैं एवं अनुभव करते हैं कि जीवनरूप गगन में कभी सुख के सुहावने बादल आते हैं और कभी दुःख की घनघोर काली घटाएं छा जाती हैं। प्रतीत होता है कि यह जीवन विघ्न, बाधा, दुःख और विविध प्रकार के क्लेशों से भरा पड़ा है। इनके आने पर हम घबरा जाते हैं और हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। मानव-जीवन की वह घड़ी कितनी विकट होती है जबकि एक ओर मनुष्य को उसकी बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियां परेशान करती हैं और दूसरी ओर इसके हृदय की व्याकुलता बढ़ जाती है। इस प्रकार की स्थिति में ज्ञानी एवं पंडितजन भी अपने वास्तविक मार्ग से भटक जाते हैं।

हताश एवं निराश होकर वे अपने दुख-कष्ट, एवं क्लेश के लिये दूसरे को कोसने लगते हैं, उसको जो केवल बाह्य निमित्त है। मूल उपादान को भूल कर उसकी दृष्टि बाह्य निमित्त पर जा पहुंचती है। इस प्रकार के विशेष प्रसंग पर वस्तुतः कर्म-शास्त्र ही हमारे गंतव्य पथ को आलोकित कर सकता है और पथ-च्युत आत्मा को पुनः सन्मार्ग पर ला सकता है। कर्म-शास्त्र बतलाता है कि आत्मा अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। सुख और दुःख का मूल कारण अपना कर्म ही है। वृक्ष का मूल कारण जैसे बीज है, वैसे ही मनुष्य के भौतिक जीवन का कारण इसका अपना कर्म ही होता है। सुख-दुख के इस कार्य-कारण भाव को समझाकर कर्मवाद मनुष्य को आकुलता एवं व्याकुलता के गहन गर्त से निकाल कर जीवन विकास की ओर चलने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार कर्मवाद आत्मा को निराशा के झंझावातों से बचाता है, दुःख एवं क्लेश सहने की शक्ति देता है। और संकट के समय में भी बुद्धि को स्थिर रखने का दिव्य संदेश देता है। कर्मवाद में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह विचार करता है कि स्वयं में जो अनुकूलता एवं प्रतिकूलता आती है उसका उत्पन्न करने वाला मैं स्वयं हूं। फलतः उसका अनुकूल एवं प्रतिकूल फल भी मुझे ही भोगना है। यह दृष्टि जीवन को शांत, सम्पन्न एवं आनन्दमय बना देती है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org